जैन संस्कृति और तत्त्वज्ञान[1]

तीन भुवनमें सार वीतरागविज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार नमहुँ त्रियोग सम्हारिके॥

गत वर्ष विद्वत्परिषद्का साधारण अधिवेशन मध्यप्रदेशकी सिवनी नगरीमें त्रैलोक्याधिपति श्री १००८ जिनेन्द्रदेवके पञ्चकल्याणक महोत्सवके अवसरपर इसी फरवरी मासमें हुआ था। उसके एक वर्ष पश्चात् यहाँ-पर उसका यह नैमित्तिक अधिवेशन हो रहा है।

सिवनीमें हुए साधारण अधिवेशनके अवसरपर मैंने अपने अध्यक्षीय भाषणमें विद्वत्परिषद्के उद्देश्योंके अनुकूल कुछ अवश्य विचारणीय समस्यायें प्रस्तुत की थीं। प्रसन्नता की बात है कि उनको लक्ष्यमें रखकर उस अधिवेशनमें माननीय सदस्यों द्वारा कुछ निर्णय भी लिये गये थे। उन निर्णयोंके आधारपर विद्वत्परिषद्ने गत एक वर्षमें क्या प्रगति की है? इसकी जानकारी विद्वत्परिषद्के सुयोग्य मंत्री जी आपको देंगे।

सर्वप्रथम यह निवेदन करना चाहता हूँ कि एक वर्षके अनन्तर हमें पुनः विद्वत्परिषद्का अधिवेशन जैन संस्कृतिकी प्राचीनतम और गौरवपूर्ण पवित्र तीर्थभूमि इस श्रावस्ती नगरीमें हो रहे पञ्चकल्याणक महो-त्सवके अवसरपर नैमित्तिकरूपसे करनेका उत्तम योग प्राप्त हुआ है। भावना है कि हमारी श्रमशक्तिका अधिक-से-अधिक उपयोग विद्वत्परिषद्की गतिशीलताको जीवित रखकर उसको सुदृढ़ बनाने और उसके उद्देश्यों-की पूर्ति करनेमें हो सके।

विद्वत्परिषद्का वर्तमानमें जो कार्यक्रम चालू है उसके विषयमें विद्वत्परिषद्के सिवनी अधिवेशन द्वारा निर्णीत किये गये महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव आधार हैं। उन प्रस्तावोंको आपके समक्ष दुहरा देना उचित समझता हूँ व आशा करता हूँ कि आप उन्हें सावधानीसे श्रवण करेंगे तथा उनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे।

"विद्वत्परिषद्का यह अधिवेशन अनुभव करता है कि जैनतत्त्वज्ञान और संस्कृतिको आधुनिक ढंगसे प्रकट करनेके लिये आवश्यक है कि विद्वत्परिषद् ऐसी गोष्ठियोंका अधिवेशनपर आयोजन करें, जिनमें जैन विषयोंपर शोधपूर्ण एवं परिचयात्मक निबन्ध पढ़े जायें और उन निबन्धोंको एक स्मारिकाके रूपमें प्रकट किया जाय।" (प्रस्ताव ६)

"दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् यह प्रस्ताव पास करती है कि जो अंग्रेजीके विद्वान होनेके साथ ही संस्कृत एवं धर्मके ज्ञाता विद्वान् हैं उनसे सम्पर्क बनाया जाय और उनसे अनुरोध किया जाय कि वे विद्वत्परिषद्से सम्बन्धित होकर सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रमें कार्य करें, ताकि जैन संस्कृति अक्षुण्य बनी रहे।" (प्रस्ताव ७)

"विद्वत्परिषद्के द्वारा प्रयास किया जावे कि रेडियोपर प्रसारित करने योग्य प्राचीन पद तथा अन्य सामयिक भाषण आदि अच्छीं और उपयुक्त सामग्री उपलब्ध की जासके तथा प्रचारमंत्रालयको इस दिशामें प्रेरित भी किया जावे।" (प्रस्ताव ९)

"समाजमें विद्वानोंकी परम्पराको अक्षुण्ण रखनेके लिये विद्वत्परिषद् प्रस्ताव करती है कि गृहविरत त्यागियोंके हृदयमें भी ज्ञानवृद्धिकी भावनाको जाग्रत करके किसी विद्यालयमें उनके शिक्षणकी व्यवस्था की जावे व विद्यालय इसके लिये त्यागियोंके उपयुक्त सब व्यवस्थाका उत्तरदायित्व लेकर ज्ञानप्राप्तिका सुअवसर प्रदान करें।" (प्रस्ताव १०)

---

१. श्रावस्तीमें १९६६ में आयोजित वि० प० के नैमि० अधिवेशनपर अध्यक्षपदसे दिया गया भाषण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"जैन साहित्यके विविध अंगोंपर राष्ट्रभाषा हिन्दीमें रचित गद्य और पद्यकी मौलिक रचनाओंको प्रतिवर्ष पुरस्कृत करनेकी योजना कार्यान्वित करके विद्वत्परिषद्के द्वारा ऐसे साहित्यसृजनको विशिष्ट प्रेरणा और गति दी जावे।" (प्रस्ताव ११)

"विद्वत्परिषद्के प्रत्येक अधिवेशनमें समाजके योग्यतम विद्वानोंको सार्वजनिक रूपसे सम्मानित किया जावे। यह सम्मान संबन्धित विद्वान्‌की समाजसेवा, साहित्यसेवा तथा अन्य धर्महितकारी गतिविधियोंके आधारपर प्राप्त साधनोंके अनुसार परिचय-ग्रन्थ, अभिनन्दन-ग्रन्थ अथवा प्रशस्तिपत्रके द्वारा किया जावे।" (प्रस्ताव १२)

ये छहों निर्णय यद्यपि अपने-अपने स्वतन्त्र वैशिष्ठ्यको रखते हुए अलग-अलग ढंगके हैं। लेकिन इन सभीमें विद्वत्परिषद्का एक ही ध्येय गर्भित है और वह है जैन संस्कृतिका संरक्षण, विकास तथा प्रसार।

जैन संस्कृतिके संरक्षण, विकास और प्रसारकी आवश्यकतापर मैंने सिवनी अधिवेशनके अवसरपर पठित अपने भाषणमें विस्तारसे चर्चा की थी। उसमें मैंने बतलाया था कि विश्वकी सम्पूर्ण मानवसमष्टिके जीवनपर यदि दृष्टि डाली जाय तो यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है कि प्रत्येक मानव-हृदयमें अनधिकारपूर्ण और न करने योग्य असीमित भोग व संग्रहकी आकांक्षायें उद्दीप्त हो रही हैं तथा इनकी पूर्तिके लिये ही सम्पूर्ण विश्व अहिंसाके मार्गसे विमुख होकर परस्परके संघर्षमें रत हो रहा है। यद्यपि इस तरहकी आकांक्षायें व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्वके लिये अहितकर हैं, तो भी इनके उन्मादमें मानवमात्रका विवेक समाप्त हो चुका है और इस तरह सम्पूर्ण मानवसमष्टिका जीवन त्रस्त है व प्रत्येक मानवहृदयमें अशान्ति तथा आकुलतायें बढ़ती ही चली जा रही हैं। जैन संस्कृतिके पुरस्कर्ता महर्षियोंने इन सब प्रकारकी बुराईयोंको मानवसमष्टिसे हटानेके लिये अपने अनुभवके बलपर कुछ वैज्ञानिक सिद्धान्त मानवजीवनके संचालनके लिये स्थिर किये थे, जिनके प्रति हमारी उपेक्षाबुद्धि हो जानेके कारण यह समस्त पृथ्वीतल नरकका महाविकराल-रूप धारण किये हुए दृष्टिगोचर हो रहा है। लेकिन यदि अब भी उन सिद्धान्तोंको समझकर हम अपने जीवन-में उन्हें ढाल लें तो यही पृथ्वीतल स्वर्गका सौन्दर्यपूर्ण अनुपम रूप भी धारण कर सकता है।

विचारकी बात है कि जब भरतक्षेत्रके इस आर्यखण्डमें भोगभूमिका वर्तमान था, तो उस समय सम्पूर्ण मानवसमष्टि सुख और शान्तिपूर्वक रहती थी। इसका कारण यह था कि उस समय प्रत्येक मानव अपना जीवन आकांक्षाओंके आधारपर संचालित न करके आवश्यकताओंके आधारपर ही संचालित करता था। आवश्यकतायें भी प्रत्येक मानवके जीवनकी कम हुआ करती थीं, इसलिये एक तो उसका उपभोग्य पदार्थोंका उपभोग कम हुआ करता था। दूसरे, उसके हृदयमें उपभोग्य पदार्थोंके प्रति आकर्षणका अभाव होनेसे वह उनके संग्रहसे भी सदा दूर रहा करता था। इस प्रकार उस समय सभी मानव परस्पर घुलमिलकर समानरूपसे ही रहा करते थे, उनमें परस्पर कभी भी संघर्षका अवसर नहीं आ पाता था।

आज हालत बिलकुल विपरीत है। प्रत्येक व्यक्तिने अपनी आवश्यकतायें अप्राकृतिक ढंगसे अधिका-धिकरूपमें बढ़ा रखी हैं और वह बढ़ती ही चली जा रही हैं। इसके अलावा सभी प्रकारकी उपयोगी वस्तुओंके अमर्यादित संग्रहकी ओर भी प्रत्येक व्यक्ति झुका चला जा रहा है। इस तरह सम्पूर्ण मानव-समष्टि-का जीवन परस्परकी विषमताओंसे भरा हुआ है। ऐसी हालतमें संघर्ष होना अनिवार्य ही समझना चाहिये।

जैन संस्कृतिके तत्त्वज्ञानमें ऐसे सभी संघर्षोंको समाप्त करनेकी क्षमता पायी जाती है, कारण कि वह मानवमात्रको न्यायोचित मार्गपर चलनेकी शिक्षा देता है। इतना ही नहीं, वह उसे ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व शरीरादि नोकर्मोंके साथ अपृथक्भावको प्राप्त आत्माको इनसे पृथक् करके स्वतन्त्र बनानेके मार्गपर भी चलनेकी शिक्षा देता है। इस तरह जाना जा सकता है कि जैन संस्कृतिका सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान दो भागोंमें विभक्त है। उनमेंसे एक भाग तो प्राणियोंके जीवनको सुखी बनामें समर्थ लौकिक तत्त्वज्ञानका है जिसे जैन संस्कृतिके आगमग्रन्थों में—

"सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव!॥"

के रूपमें प्रतिपादित किया गया है और दूसरा भाग आत्माको स्वतन्त्र बनानेमें समर्थ आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानका है, जिसे आगमग्रन्थोंमें 'अहमिक्को खलु सुद्धो' इत्यादि वचनों द्वारा आत्मतत्त्वकी पहिचान करके उसे प्राप्त करनेके मार्गके रूपमें प्रतिपादित किया गया है।

जैन संस्कृतिके लौकिक तत्त्वज्ञानका मूल आधार उल्लिखित पद्य द्वारा निर्दिष्ट "जियो और जीने दो" का सिद्धान्त है। अतः जैन संस्कृतिके पुरस्कर्ता तीर्थंकरों, विकासकर्ता गणधरदेवों और प्रसारकर्ता आचार्योंने उद्घोषणा की है कि भो! मानव प्राणियो! यदि तुम अपना जीवन सुख और शान्तिपूर्वक व्यतीत करना चाहते हो तो जैन संस्कृतिके "जियो और जीने दो" इस सिद्धान्तको हृदयंगम करो, क्योंकि इसमें मनके संकल्पोंको पवित्र तथा वाणीको अमृतमयी बनानेकी क्षमता विद्यमान है व इसके प्रभावसे प्राणियोंकी जीवन-प्रवृत्तियाँ भी एक-दूसरे प्राणियोंके जीवनकी अप्रतिघाती बन जाती हैं। यही कारण है कि भगवज्जिनेन्द्रके पुजारीको अपने जीवनमें "जियो और जीने दो"का सिद्धान्त अपनानेके लिये प्रतिदिन पूजाकी समाप्तिपर यह उद्घोष करनेका जैन संस्कृतिके आगमग्रन्थोंमें उपदेश दिया गया है कि—

"क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः
काले काले च सम्यग् वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्।
दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां मास्मभूज्जीवलोके
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि॥"

इसके अर्थको प्रकट करनेवाला सर्वसाधारणकी समझमें आने योग्य हिन्दी पद्य निम्न प्रकार है—

"होवे सारी प्रजाको सुख, बलयुत हो धर्मधारी नरेशा
होवै वर्षा समय पै, तिलभर न रहै व्याधियोंका अंदेशा।
होवे चोरी न जारी, सुसमय वर्तै, हो न दुष्काल भारी
सारे ही देश धारैं जिनवरवृषको, जो सदा सौख्यकारी॥"

इससे यह बात अच्छी तरह ज्ञात हो जाती है कि प्रत्येक मानवको अपने जीवनमें सुख और शान्ति लानेके लिये सम्पूर्ण मानव-समष्टिके जीवनमें सुख और शान्ति लानेका ध्यान रखना परमावश्यक है।

जैन संस्कृतिके आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानकी विशेषता यह है कि इसे पाकर यह तुच्छ मानव देहधारी प्राणी अपनी जन्म और मरणकी प्रक्रियाको समाप्त करके हमेशाके लिये अजर-अमर बनकर नित्य और निरामय स्वातंत्र्य-सुखका उपभोक्ता हो जाता है। इस तत्त्वज्ञानके आधारपर मानव-जीवनके विकासके अनुसार आत्मविकासकी प्रक्रियाका विवेचन जैन संस्कृतिके आगमग्रन्थोंमें निम्न प्रकार उपलब्ध होता है—

जब कोई बिरला मनुष्य "जियो और जीने दो"के सिद्धान्तानुसारी लौकिक धर्ममार्गपर चलकर उपलब्ध किये गये जीवनसम्बन्धी (लौकिक) सुखकी पराधीनता और विनशनशीलताको समझकर उसके प्रति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने अन्तःकरणमें विरक्तिभाव जागृत कर लेता है तथा "नित्य और निरामय सुख आत्माके स्वतन्त्र हो जानेपर ही प्राप्त हो सकता है" ऐसा जानकर वह मुमुक्षु बन जाता है तो उसके उस विरक्तिभावसे भरे हुए अन्तःकरणसे यह आवाज अनायास ही निकलने लगती है कि—

"मेरे कब ह्वै वा दिनकी सुघरी–
तन, बिन बसन, असन बिन, वनमें निवसों, नासादृष्टि धरो"

अर्थात् वह विचारने लगता है कि मुझे कब उस दिनका शुभ अवसर प्राप्त हो, जिस दिन मैं नग्न दिगम्बर-मुद्राको धारण करके वनको अपना निवास स्थल बना लूं ? और अपनी इस भावनाको सुदृढ़ करता हुआ वह आगे चलकर जब वास्तवमें वनवासी हो जाता है तब उसके परिणामोंकी वृत्ति भी—

"अरि-मित्र, महल-मसान, कंचन-कांच, निन्दन-थुतिकरन,
अर्घावतारण-असिप्रहारणमें सदा समता धरन ।"

—के रूपमें चमक उठती है। इतना ही नहीं, वह इतने मात्रसे संन्तुष्ट न होकर आगे अपनी प्रवृत्तियोंकी बहिर्मुखताको समाप्त करके उन्हें अन्तर्मुखी बनाकर मन, वचन और काय सम्बन्धी योगोंकी निश्चलता प्राप्त करता हुआ आत्माका इस तरह ध्याता बन जाता है कि मृग भी उसे पाषाण समझकर निर्भयताके साथ उसके पास आकर अपनी खाज खुजलाने लग जाता है और अन्तमें उसकी यहाँ तक स्थिति बन जाती है कि उसे इतना भी पता नहीं रह जाता है कि कौन तो ध्याता है ? किसका ध्यान किया जा रहा है ? और वह ध्यानक्रिया भी कैसी हो रही है ? अर्थात् उस समय वह केवल शुद्धोपयोगरूप ऐसा निश्चलदशाको प्राप्त हो जाता है, जिसके होनेपर वह यथायोग्य क्रमसे कर्मों तथा नोकर्मोंके साथ विद्यमान आत्माकी परतन्त्रताको समूल नष्ट करके अन्तमें अपना चरमलक्ष्यभूत परमपद अर्थात् आत्मस्वातंत्र्यस्वरूप मोक्षको प्राप्त कर लेता है।

लौकिक और आध्यात्मिक दोनों ही प्रकारके तत्त्वज्ञानोंमेंसे लौकिकतत्त्वज्ञान तो जैन संस्कृतिको बाह्य आत्मा है क्योंकि इससे हमें अपने जीवनको सुखी बनानेका मार्ग प्राप्त होता है और आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान उसकी (जैन संस्कृतिकी) अन्तरंग आत्मा है क्योंकि इससे हमें आत्माको स्वतन्त्र बनानेका मार्ग प्राप्त होता है। यद्यपि प्रत्येक मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह आत्माको स्वतन्त्र बनानेके मार्गकी प्राप्तिको अपने जीवनका मुख्य लक्ष्य निर्धारित करे तथा मुमुक्षु बनकर वह अपने शरीरको अधिक-से-अधिक स्वावलम्बी बनानेका प्राकृतिक ढंगसे प्रयास करे और इस तरह उसका शरीर जितना-जितना स्वावलम्बी बनता जाय उतना-उतना ही वह अणुव्रतों व इससे भी आगे महाव्रतोंके रूपमें क्रमशः शरीरसंरक्षणके लिये तब तक आवश्यक परवस्तुओंका अवलम्ब छोड़ता चला जाय, परन्तु अन्तःकरणमें मोक्षप्राप्तिकी भावनाका जागरण न होनेसे जो अभी तक मुमुक्षु नहीं बन सके अथवा मोक्षप्राप्तिकी भावनाका अन्तःकरणमें जागरण हो जानेपर भी जो अपने शरीरको स्वावलंबी बनानेमें असमर्थ हैं उन्हें भी "जियो और जीने दो"के सिद्धान्तानुसार सम्पूर्ण मानवसमष्टिके संरक्षणकी चिन्ता रखते हुए उसके साथ घुलमिलकर समानरूपमें रहनेका अपना जीवनमार्ग निश्चित करना परमावश्यक है क्योंकि इसके बिना न तो उनका जीवन उदात्त और सुख-शान्तिमय हो सकता है और न वे अपने जीवनको आध्यात्मिकताकी ओर मोड़ सकते हैं। जिन महापुरुषोंने पूर्वमें जब भी आध्यात्मिक धर्मके मार्गपर चलनेकी ओर कदम बढ़ाया है तो उन्होंने अपने जीवनमार्गको "जियो और जीने दो"के सिद्धान्तानुसार परिष्कृत करनेका सर्व प्रथम प्रयत्न किया है।

मैंने इस भाषणके प्रारम्भमें श्रद्धेय पं० दौलतरामजी कृत छहढालाके जिस मंगलमय पद्यके द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मङ्गलाचरण किया है उससे मेरे उल्लिखित कथनका ही समर्थन होता है। उस पद्यमें वीतराग-विज्ञानताको तीनों लोकोंमें श्रेष्ठ प्ररूपित करते हुए उसके समर्थनके लिये जो 'शिवस्वरूप' और 'शिवकार' ये दो पद निक्षिप्त किये गये हैं उनमेंसे 'शिवस्वरूप' पदसे तो वीतरागविज्ञानताको स्वयं आनन्दस्वरूप बतला दिया गया है और 'शिवकार' पदसे उस वीतराग-विज्ञानताको आनन्दका कारण भी प्ररूपित कर दिया गया है। जहाँ वीतरागविज्ञानताको आनन्दस्वरूप कहा गया है वहाँ तो उसका आशय मानवजीवनके आध्यात्मिक चरमोत्कर्ष-से लिया गया है और उस वीतरागविज्ञानताको जहाँ आनन्दका कारण स्वीकार किया गया है वहाँ उसका आशय मूलतः अन्तःकरणमें उद्भूत विवेक या सम्यग्दर्शनके साथ यथायोग्यरूपमें पाये जानेवाले उस ज्ञानसे लिया गया है जिसे "जियो और जीने दो"के सिद्धान्तकी आधारभूमि कहा जा सकता है। अब इससे मेरे उल्लिखित कथनका समर्थन किस प्रकार होता है, इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार जानना चाहिये।

वीतराग शब्दमें जो रागशब्द गर्भित है वह द्वेषका भी उपलक्षण है। इस प्रकार जो ज्ञान राग अथवा द्वेषसे प्रभावित न हो उस ज्ञानको ही जैन संस्कृतिमें 'वीतरागविज्ञान' शब्दसे पुकारा गया है। जीवमें राग और द्वेष दोनोंकी उत्पत्ति दो प्रकारसे हुआ करती है। उन दोनों प्रकारोंमेंसे एक प्रकार तो दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जीवमें ही उत्पन्न होनेवाला मोहपरिणाम यानी जीवका परपदार्थोंमें अहंभाव या ममभाव है और दूसरा अन्तरायकर्मके देशघातिस्पर्धकोंके उदयसे जीवमें ही उत्पन्न होनेवाली जीवनसम्बन्धी भोग, उपभोग आदि परपदार्थोंकी अधीनता यानी परवशता या मजबूरी है। यद्यपि राग और द्वेष दोनों चारित्र-मोहनीयकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले आत्मपरिणाम हैं। परन्तु ये दोनों ही परिणाम जीवमें या तो उक्त मोहरूप आत्मपरिणामकी प्रेरणा मिलनेपर उत्पन्न होते हैं या फिर जीवकी जीवनसम्बन्धी भोगादिपरवशता रूप आत्मपरिणामकी प्रेरणा मिलनेपर उत्पन्न होते हैं।

मनमें उत्पन्न होनेवाली अनधिकारपूर्ण और अकरणीय आकांक्षाओंकी पूर्तिके कारणोंके प्रति होनेवाले प्रीतिरूप आत्मपरिणामका नाम मोहनीयकर्मके उदयसे उत्पन्न उक्त मोहरूप आत्मपरिणामकी प्रेरणा मिलनेपर उत्पन्न होने वाला रागभाव है और उक्त प्रकारकी उन आकांक्षाओंकी पूर्तिमें बाधा पहुँचाने वाले कारणोंके प्रति होनेवाले अप्रीति व आत्मपरिणामका ही नाम उक्त मोहरूप आत्मपरिणामकी प्रेरणा मिलनेपर उत्पन्न होनेवाला द्वेषभाव है। इसी प्रकार जीवके भोग और उपभोग आदि परवस्तुओंकी अधीनताको प्राप्त जीवनकी जो भी आवश्यकतायें हों उनकी पूर्तिके कारणोंका उपयोग करने रूप आत्मपरिणामका नाम अन्तरायकर्मके देशघातिस्पर्द्धकोंके उदयसे उत्पन्न परवशतारूप आत्मपरिणामकी प्रेरणा मिलनेपर उत्पन्न होनेवाला रागभाव है और उक्त प्रकारकी आवश्यकताओंकी पूर्तिमें बाधा पहुँचानेवाले कारणोंका प्रतिरोध करने रूप आत्मपरिणामका नाम उक्त परवशतारूप आत्मपरिणामकी प्रेरणा मिलनेपर उत्पन्न होनेवाला द्वेष भाव है।

दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले उक्त मोहकी प्रेरणासे उत्पन्न होनेवाले राग और द्वेष और अन्तरायकर्मके देशघातिस्पर्धकोंके उदयसे उत्पन्न होनेवाली उक्त परवशताकी प्रेरणासे उत्पन्न होने-वाले राग और द्वेषके अन्तरको सरलतासे समझनेके लिये उदाहरणके रूपमें यह बात कही जा सकती है कि अभी कुछ मास पूर्व जो पाकिस्तान और भारतके मध्य भयंकर युद्ध हुआ था उसने पाकिस्तानके राष्ट्रपतिकी इच्छा भारतको पददलित करनेकी थी इसलिये उनका वह युद्ध करने रूप परिणाम मोहकी प्रेरणासे उत्पन्न होनेवाला द्वेषभाव था और चूँकि जब पाकिस्तानका भारतपर आक्रमण हो गया तो भारतको भी परवश युद्ध-में कूदना पड़ा। इसलिये भारतके तत्कालीन प्रधानमंत्री स्वर्गीय श्री लालबहादुर शास्त्रीका परवशताकी प्रेरणासे उत्पन्न होनेवाला द्वेषभाव था। उन दोनोंके द्वेषभावमें अन्तर विद्यमान रहनेके कारण ही विवेकशील देशोंने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाकिस्तानके पक्षको अन्यायका और भारतके पक्षको न्यायका पक्ष माना है ।

मोहके कारण उत्पन्न होनेवाले राग और द्वेष प्राणियोंके जीवनको अशान्त और संघर्षमय बनाते हैं जबकि परवशता (पराधीनता) के कारभ उत्पन्न होनेवाले राग और द्वेष प्राणियोंके जीवनकी सुखशान्तिमें बाधक न होकर केवल आध्यात्मिक जीवनके विकासमें बाधक होते हैं । इसको जैनागमके आधारपर यों कहा जा सकता है कि मोहके कारण होनेवाले राग और द्वेष अनन्तानुबन्धी कषायरूप होते हैं, इसलिये वे जीवोंको विवेकी या सम्यग्दृष्टि बननेसे रोकते हैं अर्थात् इससे उनका (जीवोंका) जीवन अशांत और संघर्षमय बना रहता है । इसी तरह परवशता (पराधीनता) के कारण उत्पन्न होनेवाले राग और द्वेष अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायरूप होते हैं । इसलिये वे जीवोंको चारित्रकी ओर बढ़नेसे रोकते हैं अर्थात् इसके कारण वे अपना जीवन भोजन, वस्त्र, आवास आदिके बिना सुरक्षित रखनेमें असमर्थ रहा करते हैं ।

उपर्युक्त कथनका तात्पर्य यह है कि जिस जीवके मोहका अभाव हो जानेसे उसके कारण उत्पन्न होनेवाले अनन्तानुबन्धी कषायरूप राग और द्वेष समाप्त हो जाते हैं उस जीवमें वीतरागविज्ञानताका प्रारम्भिक रूप आ जाता है और फिर इसके पश्चात् एक ओर तो धीरे-धीरे अन्तरायकर्मके देशघातिस्पर्द्धकोंके उदयका अभाव होते हुए वह पूर्णतया नष्ट हो जावे तथा दूसरी ओर उत्तरोत्तर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायके क्रमसे राग और द्वेष भी धीरे-धीरे घटते हुए अन्तमें पूर्णतया नष्ट हो जावे व इसके अलावा ज्ञान भी इसके बाधक समस्त ज्ञानावरण कर्मका अभाव हो जानेसे पूर्णतया प्रकट हो जावे, तो ऐसी स्थिति जब बन जाती है तब उस जीवमें वीतरागविज्ञानता अपने चरमउत्कर्ष पर पहुँच जाती है ।

वीतरागविज्ञानताका उक्त प्रारम्भिकरूप प्रकट हो जानेसे जब जीव विवेकी या सम्यग्दृष्टि बन जाता है तब अशांति व संघर्षका बीज समाप्त हो जानेके कारण उसकी भावनामें, उसकी वाणीमें और उसके प्रत्येक कार्यमें "जियो और जीने दो" के सिद्धान्तकी झलक दिखाई देने लगती है । लौकिक धर्म इसीका नाम है । यही जीव जब आगे चलकर अप्रत्याख्यानावरण कषायकी किंचित् हानि हो जानेपर मोक्षप्राप्तिके प्रति उत्सुकतारूप दर्शनप्रतिमाका धारी हो जाता है तब वह सर्वप्रथम "मुमुक्षु" संज्ञाको प्राप्त होता है और वह जीव वहींसे आध्यात्मिक धर्मके मार्गमें प्रवेश करता है । यहाँसे लेकर जिस जीवमें अध्यात्मिक धर्मका मार्ग जैसा-जैसा विकसित होता जाता है उसके लौकिक धर्मके मार्गका दायरा वैसा-वैसा ही संकुचित होता जाता है । अर्थात् इसके लिये उक्त क्रमसे जीवनसंरक्षणका प्रश्न गौण व आत्मविकासका प्रश्न मुख्य हो जाता है । इस तरह उस हालतमें जो कुछ वह सोचता है और जो कुछ वह करता है उसका मेल वह मुख्यतया अपने आत्मविकासके साथ ही बिठलाने लगता है ।

इस विषयको इस तरह भी स्पष्ट किया जा सकता है कि लौकिक धर्म प्रवृत्ति-परक धर्म है और आध्यात्मिक धर्म निवृत्तिपरक धर्म है । जिस व्यक्तिके सामने केवल जीवनके संरक्षणका प्रश्न ही महत्त्वपूर्ण है उसका कर्त्तव्य है कि वह प्रवृत्तिपरक लौकिकधर्मके मार्गपर चले । अर्थात् वह अपनी प्रवृत्ति ऐसा निर्णय करके करे कि वह प्रवृत्ति किस दृष्टिसे और कहाँ तक न्यायोचित है तथा स्वके लिये व समाज, राष्ट्र एवं विश्वके लिये किसी भी प्रकार विघातक नहीं है । परन्तु लौकिक धर्मके मार्गपर चलनेवाले व्यक्तिके लिये स्व, तथा समाज एवं राष्ट्रकी रक्षाके निमित्त यदि कदाचित् आवश्यक हो जावे, तो न्यायोचित् तरीकेसे शस्त्रका उपयोग करना भी जैन संस्कृतिके धार्मिक तत्त्वज्ञानके अनुसार अहिंसाकी परिधिमें आता है । इसलिये भारत पर पाकिस्तान द्वारा आक्रमण किये जानेपर भारतको अपनी रक्षाके लिये जो युद्धमें प्रवृत्त होना पड़ा उससे भारतको किसी भी प्रकार हिंसक नहीं माना जा सकता है और न इससे उसकी (भारतकी) अहिंसक नीतिमें कोई अन्तर ही उत्पन्न होता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्त लौकिक धर्मके मार्ग पर चलनेके लिये मनुष्यको मनोबलकी बड़ी आवश्यकता है। जिस व्यक्ति-में मनोबलका अभाव है उसका मन कभी उसके नियंत्रणमें रहनेवाला नहीं है और अनियन्त्रित मनवाला व्यक्ति हमेशा लोकमें अन्याय और अत्याचार रूप अनुचित तथा जीवन-संरक्षणके लिये अनुपयोगी व अनावश्यक प्रवृत्तियाँ किया करता है जिससे उसके जीवनमें सुख और शांति सही अर्थोंमें कभी आ ही नहीं सकती है। ऐसे व्यक्तिको जैन संस्कृतिके धार्मिक तत्त्वज्ञानके अनुसार मिथ्यादृष्टि या अधर्मात्मा कहा जाता है। जो व्यक्ति अपनेको मनोबलका धनी बना लेता है उसका मन उसके नियंत्रणमें हो जाता है तब वह व्यक्ति उक्त प्रकार-की अनुचित, अनुपयोगी और अनावश्यक प्रवृत्तियोंको समाप्त कर केवल उचित उपयोगी और आवश्यक प्रवृ-त्तियों तक ही अपना प्रयास सीमित कर लेता है। व्यक्तिके इस प्रकारके प्रयाससे लोकमें संघर्ष समाप्त होकर शांति स्थापित हो सकती है तथा व्यक्तिके जीवनमें सुख और शान्ति आ सकती है। जो व्यक्ति जब उचित, उपयोगी और आवश्यक प्रवृत्तियों तक ही अपना व्यपार सीमित कर लेता है तब जैन संस्कृतिके धार्मिक तत्त्व-ज्ञानके अनुसार उसे सम्यग्दृष्टि या लौकिक दृष्टिसे धर्मात्मा कहा जा सकता है।

इसी प्रकार जो व्यक्ति जब अपने जीवन-संरक्षणके प्रश्नको गौणकर आत्मस्वातंत्र्यके प्रश्नको प्रमुख बना लेता है तब उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह यथाशक्ति निवृत्तिपरक आध्यात्मिक धर्मके मार्गपर चले। आध्यात्मिक मार्गपर चलनेके लिये प्रत्येक व्यक्तिको मनोबलके साथ-साथ जीवनकी भोगादि वस्तुओंकी परा-धीनताको समाप्त करनेवाले शारीरिक बल और आत्मबलकी भी आवश्यकता है। जैनागममें वर्णित बाह्यतप शारीरिकबलकी वृद्धिके और अन्तरंग तप आत्मबलकी वृद्धिके कारण हैं। जिस व्यक्तिके अन्दर ये दोनों ही बल जितनी वृद्धिको प्राप्त होते जावेंगे उस व्यक्तिके सामने जीवनसंरक्षणका प्रश्न उतना ही गौण होता जायगा। इस तरह वह व्यक्ति धीरे-धीरे प्रवृत्ति कर लौकिकधर्मके मार्गसे ऊपर उठता हुआ क्रमशः अणुव्रत और महाव्रत आदिके रूपमें निवृत्तिपरक आध्यात्मिक धर्मके मार्गपर अग्रसर होता जायगा और इसके एक सीमा तक पहुँच जानेपर वह इतना आध्यात्मिक दृष्टिसे धर्मात्मा बन जाता है कि वह अपने जीवनसंरक्षणके लिये शस्त्रादिकका उपयोग करना तो दूरकी बात है, अपितु इससे भी आगे वह ऐसी प्रवृत्तियोंका भी त्यागी बन जायगा, जिन प्रवृत्तियोंका साक्षात् या परंपरया आत्मविकाससे सम्बन्ध न हो अथवा जिनका त्याग करना उसे थोड़ा भी सम्भव हो। ऐसा व्यक्ति अपने आत्मविकासके लिये निःस्पृहतापूर्वक जीवनको तुच्छ समझकर अवसर आनेपर निर्द्वंद्वतापूर्वक मृत्युको भी वरण कर लेगा। जैन संस्कृतिमें प्रवृत्तिपरक लौकिक धर्म और निवृत्तिपरक आध्यात्मिक धर्मके मध्य यही अन्तर प्रतिपादित किया गया है।

इस तरह जैन संस्कृतिके धार्मिक तत्त्वज्ञानको जो विवेचना यहाँ पर की गई है उससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने जीवनकी सुरक्षाके लिए अनुचित, अनुपयोगी और अनावश्यक भोग तथा संग्रहरूप प्रवृत्तियों (जिन्हें अधर्मके नामसे पुकारा गया है) का सर्वथा त्यागकर उचित, उपयोगी और आव-श्यक भोग तथा संग्रहरूप प्रवृत्तियों (जिन्हें लौकिक धर्मके नामसे पुकारा गया है) को स्वीकार करना ही उत्तम मार्ग है और जिनके अन्तःकरणमें आत्मस्वातंत्र्य प्राप्त करनेकी उत्कट भावना जाग्रत हो चुकी है अर्थात् जो मुमुक्षु बन चुके हैं उन्हें लौकिक धर्मके नामसे पुकारी जानेवाली प्रवृत्तियोंको भी त्यागकर निवृत्तिरूप आध्या-त्मिक धर्मको अपनाना ही उत्तम मार्ग है।

जैन संस्कृतिके इस धार्मिक तत्त्वज्ञानके संरक्षण, विकास और प्रसारके लिए ही विद्वत्परिषद्ने सिवनी अधिवेशनमें उपर्युक्त छह प्रस्ताव पारित किये थे। इसलिये उन्हें क्रियात्मकरूप देनेके लिये हमे अपनी पूरी शक्ति लगानेकी आवश्यकता है। उनमेंसे प्रस्ताव संख्या ६ व ७ को क्रियात्मकरूप दिया जा चुका है जिससे अनुमान होता है कि इनकी सफलता असंदिग्ध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्ताव संख्या ९ को कार्यान्वित करनेके लिये जो उपसमिति सिवनी अधिवेशनमें बनायी गयी थी उसने, मुझे जहाँ तक मालूम है, अभी तक अपना कार्य प्रारम्भ नहीं किया है। मेरा उस उपसमितिके संयोजक श्री नीरज जैन सतनासे अनुरोध है कि वे इस प्रस्तावको क्रियात्मक रूप देनेके लिये उचित कार्यवाही करे।

प्रस्ताव संख्या १० इस दृष्टिसे पारित किया था कि समाजमें सांस्कृतिक विद्वानोंकी संख्या धीरे-धीरे कम होती जा रही है और नवीन विद्वान तैयार नहीं हो रहे हैं, इसलिये दि० जैन संस्कृतिके संरक्षणकी जटिल समस्या सामने उपस्थित है। इसको हल करनेका यह उपाय उत्तम था कि गृहविरत त्यागीजन संस्कृतिके संरक्षणकी चिन्ता करने लगें व इस तरह वे अपने जीवनका अमूल्य समय संस्कृतिके तत्त्वज्ञानके अध्ययनमें लगायें। परन्तु ऐसे गृहविरत त्यागियोंका मिलना दुर्लभ हो रहा है, जिनकी अभिरुचि संस्कृतिके तत्त्वज्ञानके अध्ययन की हो। अभी तीन-चार माह पूर्व श्रीमहावीरजीमें व्रती-विद्यालयकी स्थापना हुई थी, लेकिन जनवरी-के अन्तिम सप्ताहमें श्री महावीरजी जानेपर देखा तो उस व्रती-विद्यालयमें व्रतियोंका अभाव-सा देखनेको मिला। दो-चार व्रती हैं भी, तो एक तो उनमें अध्ययनकी रुचि नहीं देखी गयी। दूसरे, वे वहाँ पर स्थिर होकर अध्ययन करेंगे—यह कहना कठिन है। इन्दौरका उदासीनाश्रम तो लम्बे समयसे स्थापित है, परन्तु वहाँसे एक भी उदासीन संस्कृतिका सर्वांगीण विद्वान बनकर बाहर आया है, यह नहीं कहा जा सकता है। इसी तरह और कई व्रती-विद्यालयोंकी स्थापना तथा समाप्तिके उदाहरण दिये जा सकते हैं।

गृहविरत त्यागियोंकी अध्ययनकी ओर रुचि क्यों नहीं ? इसका एक ही कारण है कि वे अपना लक्ष्य अध्ययन करनेका नहीं बनाते हैं। पुरातन कालमें हमारे महर्षियोंका लक्ष्य संस्कृतका अध्ययन-अध्यापन रहता था, इसलिये उनकी बदौलत ही आज हमें संस्कृतके महान् ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं। यदि अभी भी हमारे महर्षियोंका लक्ष्य संस्कृतके प्रकाण्ड विद्वान् बननेकी ओर हो जाय, तो संस्कृतके संरक्षणकी समस्या हल होनेमें देर न लगे, परन्तु इसके लिये हमारे महर्षियोंमें एक तो अनुशासनकी भावना हो। दूसरे, ऐसे व्यक्तियोंको ही गृहविरत त्यागी, ब्रह्मचारी या मुनि बननेकी छूट होना चाहिये, जिनका लक्ष्य संस्कृतके प्रकाण्ड विद्वान् बनना हो।

प्रस्ताव संख्या ११ को सफल बनानेके लिये समाजके लब्धप्रतिष्ठ श्रीमान् साहु शान्तिप्रसादजी ने १०००) वार्षिक विद्वत्परिषद्को देनेकी स्वीकारता दी है। इसके लिये विद्वत्परिषद् उनका प्रसन्नतापूर्वक आभार मानती है और विद्वानोंसे आशा करती है कि वे इससे समुचित लाभ लेकर संस्कृतिके संरक्षणमें अपना योगदान करेंगे।

विद्वत्परिषद्ने सिवनी अधिवेशनमें ही संख्या ५ का एक प्रस्ताव स्व० पं० गुरु गोपालदासजी बरैयाकी सौवीं जयन्ती उच्चस्तरपर मनानेके सम्बन्धमें पारित किया था। प्रसन्नताकी बात है कि इस कार्यको सम्पन्न करनेके लिये बनायी गयी उपसमिति तत्परताके साथ कार्य कर रही है। इसके लिये यह उपसमिति और इसके संयोजक डॉ० नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य आरा अधिक-अधिक धन्यवादके पात्र हैं। समाज व विद्वानोंने भी इस कार्यमें काफी दिलचस्पी दिखाकर आर्थिक सहयोग प्रदान किया है तथा इनसे आगे भी अत्यधिक आर्थिक सहयोग मिलनेकी आशा है। प्रत्येक विद्वानको भी अपना कर्तव्य समझकर इसमें आर्थिक सहयोग देना चाहिये।

विद्वत्परिषद्ने सिवनी अधिवेशनके प्रस्ताव संख्या ८ द्वारा लेखक व वक्ता विद्वानोंसे अनुरोध किया था कि वे लेखों और प्रवचनोंमें शिष्टसम्मत शैलीका पालन करें और व्यक्तिगत आपेक्षसे बचें। गत जनवरी मासके अन्तिम सप्ताहमें श्रीमहावीरजी तीर्थक्षेत्रपर भी उक्त विषयके सम्बन्धमें विद्वानों और श्रीमानोंका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक सम्मेलन हुआ था। उसमें प्रभावक ढङ्गमें हुए निर्णयसे आशा बँधती है कि उससे लाभ होगा। वे महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं। जिन्होंने श्रीमहावीरजीके सम्मेलनका आयोजन किया और उसे सफल बनाया।

इन्दौरमें तेरहपंथ और बीसपंथका संघर्ष सुननेमें आया है तथा कतिपय स्थानोंपर सोनगढ़से नियंत्रित मुमुक्षुमण्डलों और पुरातन समाजके बीच भी संघर्ष सुननेमें आये हैं। यह बड़े दुःखकी बात है। ऐसी घटनाओंसे समाज कलंकित होती है। मैं समझता हूँ कि धर्मके संरक्षण अथवा प्रचारके लिये कषायपूर्ण संघर्ष होना धर्मके ही महत्त्वको कम करते हैं। इसलिये परस्पर-विरोधी आस्था रखनेवाले व्यक्तियोंको केवल धर्माराधनपर ही दृष्टि रखना चाहिये, उनका कल्याण उसीमें है।

इस प्रसंगमें एक बातमें यह कहना चाहता हूँ कि समाजमें विद्यमान सहनशीलताके अभावसे ही प्रायः ऐसे या अन्य प्रकारके सामाजिक संघर्ष हुआ करते हैं। इसलिये हमारी सामाजिक संस्थाओंको अपनी स्थिति इतनी सुदृढ़ बनानी चाहिये, ताकि वे सहनशीलताको अपना सकें व समाजको संगठित कर सकें।

श्री सम्मेदशिखरजी तीर्थक्षेत्रके विषयमें विहार सरकार और श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाजके मध्य जो इकरार हुआ है उससे दिगम्बर समाजके अधिकारोंका हनन होता है। अतः इस इकरारको समाप्त करवानेका जो प्रयत्न अ० भा० तीर्थक्षेत्र कमेटी द्वारा किया जा रहा है वह स्तुत्य है। इसमें सन्देह नहीं कि उक्त कमेटीने गतवर्ष समाजमें श्रीसम्मेदशिखरजी तीर्थक्षेत्रकी रक्षा करनेके लिये जो चेतना जाग्रत की, उसके कारण वह अत्यन्त प्रशंसाकी पात्र है। परन्तु अब वह क्या कर रही है, इसकी जानकारी समाचारपत्रों द्वारा होते रहना चाहिए।

हम मानते हैं कि तीर्थक्षेत्र कमेटीके सामने कार्यको तत्परतापूर्वक सम्पन्न करनेमें कुछ कठिनाईयाँ सम्भव हैं और हम उसके पदाधिकारियोंको यह विश्वास दिला देना चाहते हैं कि समाजको कमेटीके ऊपर पूर्ण विश्वास है, फिर भी उससे हमारा अनुरोध है कि समाजमें क्षेत्रके विषयमें जो चिन्ता और बेचैनी हो रही है उसको ध्यानमें रखते हुए वह यथासम्भव अधिक-से-अधिक तत्परतापूर्वक समस्याको सन्तोषप्रद ढंगसे शासनसे शीघ्र हल करवानेका प्रयत्न करे।

'सरिता' पत्रमें जैनसंस्कृतिके विरुद्ध "कितना महँगा धर्म" शीर्षकसे प्रकाशित लेखसे जैन समाजका क्षुब्ध होना स्वाभाविक है। लेखका लेखक और पत्रका सम्पादक दोनों यदि यह समझते हों कि उन्होंने उत्तम-कार्य किया है तो यह उनकी आत्मवञ्चना ही सिद्ध होगी। इसका जैसा प्रतिरोध जैन समाजकी तरफसे किया गया है या किया जा रहा है वह तो ठीक है परन्तु जैन समाज और उसकी साधुसंस्थाको संस्कृतिके वैज्ञानिक और आध्यात्मिक महत्त्व व उसकी उपयोगिताकी लोकको जानकारी देनेके लिये संस्कृतिके अनुकूल कुछ विधायक कार्यक्रम भी अपनाना चाहिये।

वाराणसीमें विद्वत्परिषद्की कार्यकारिणीकी बैठकके अवसरपर ऐसी चर्चा उठी थी कि विद्वत्परिषद्के उद्देश्य और कार्यक्रमके साथ भारतीय जैन साहित्यसंसद्के उद्देश्य और कार्यक्रमका सुमेल बैठता है, अतः क्यों न उसे विद्वत्परिषद्के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया जाय ? इस चर्चाको यदि सार्थकरूप दिया जा सके तो मेरे ख्यालसे सांस्कृतिक लाभकी दृष्टिसे यह अत्यधिक उत्तम बात होगी।

मैं पुनः विद्वत्परिषद् और शास्त्रिपरिषद्के एकीकरणकी बातको दुहराता हूँ और कहना चाहता हूँ कि इसके लिये यदि विद्वत्परिषद्को पहल भी करना पड़े तो करना चाहिये। श्रीमहावीरजीमें हुए सम्मेलनसे निर्मित वातावरण इस एकीकरणके लिए सहायक हो सकता है। इसके अलावा मेरा दृष्टिकोण अब भी यह बना हुआ है कि विद्वत्परिषद्का एक सांस्कृतिक पत्र अवश्य होना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अब मैं ऐसे महत्त्वपूर्ण विषयपर प्रकाश डालना चाहता हूँ जिसके सम्बन्धमें समस्त जैन समाजको रुचि और उत्साह प्रसन्नतापूर्वक दिखलाना चाहिए। वह है इस श्रावस्ती तीर्थक्षेत्रका विकासकार्य। श्रावस्ती भारतवर्षकी एक प्राचीनतम सांस्कृतिक एवं प्रसिद्ध नगरी रही है। सांस्कृतिक दृष्टिसे इसका विशेष महत्त्व रहा है। यही कारण है कि इसको भारतवर्षकी सभी संस्कृतियोंके प्रवर्तकोंने अपने-अपने समयमें अपनाया है। जैन समाजसे तो इसका सम्बन्ध अतिप्राचीनतम कालसे है। जैन संस्कृतिके मुख्य प्रवर्तक २४ तीर्थंकरोंमेंसे प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव और द्वितीय तीर्थंकर श्री अजितनाथके अनन्तर जो तृतीय तीर्थंकर श्री शंभवनाथ हुए हैं उनके गर्भ, जन्म, तप और केवल ये चारों कल्याणक इसी श्रावस्ती नगरीमें ही हुए हैं और तभीसे वह नगरी अपने वैभवपूर्ण सौंदर्यके कारण इतिहासप्रसिद्ध है। साथ ही ऐतिहासिक कालके पूर्व भी यह महती वैभवशालिनी रही है—इसकी जानकारी हमें पुराणग्रन्थोंमें प्रचुरताके साथ पायी जाने वाली विवेचनासे प्राप्त होती है। "जगत्की प्रत्येक दृश्यमान वस्तु अस्थिर और अनित्य है" इसका अपवाद यह नगरी भी नहीं बन सकी और इसलिये आज यह इस भग्नकायाके रूपमें दृष्टिगोचर हो रही है। बहराइचकी दि० जैन समाज और श्री श्रावस्ती दि० जैन तीर्थक्षेत्र कमेटीको हम इसलिये साधुवाद देना चाहते हैं कि इन्होंने उसे सम्पूर्ण जैन समाजके दृष्टिपथ पर लानेके लिये यह पञ्चकल्याणक महोत्सव कराया है। श्री भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद् यहाँ अधिवेशन करके अपनेको कृतार्थ समझती है। मुझे आशा है कि भारतवर्षकी सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज—

"शानदार था भूत, भविष्यत् भी महान् है।
अगर सम्हालो आज उसे, जो वर्तमान है॥"

—इस पद्यकी भावनाके अनुसार इस क्षेत्रके सांस्कृतिक उत्थानमें अपना पूर्ण योगदान करेगी तथा उपस्थित जन समुदायके इस क्षेत्रके विकासमें यथाशक्ति आर्थिक योगदान किये बिना यहाँसे नहीं लौटेगा।

सन् १९६६ का वर्ष प्रारम्भ राष्ट्रकी दृष्टिसे बड़ा दुखदायी सिद्ध हुआ है। राष्ट्रके प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्रीका अकल्पित वियोग एक ऐसी घटना है जिससे संसार स्तब्ध रह गया है। भारत और पाकिस्तानके मध्य १८ वर्षसे चले आ रहे झगड़ेका ताशकन्द (रूस) में सुखद अन्त श्री शास्त्रीजीके द्वारा होना और फिर करीब ८-९ घन्टेके अनन्तर ही वहींपर उनका स्वर्गवास हो जाना इत्यादि बातें हृदयविदारक हैं। श्री नेहरूजीके स्वर्गवासके अनन्तर ये भारतके प्रधानमंत्री बने। परन्तु यह भारतका दुर्भाग्य था कि इन्हें अपने डेढ़ वर्षके कार्यकालमें विरासतमें प्राप्त और कुछ नवीन जटिल संघर्षोंसे ही जूझना पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि संघर्षोंके साथ जूझना शास्त्रीजीका अजेय वीर योद्धा जैसा युद्ध था। उन्होंने अपने कार्यकलापके डेढ़ वर्षके अल्पसमयमें ही भारतका मस्तक विश्वमें ऊँचा कर दिया और स्वयं विश्वके श्रद्धाभाजन बन गये।

सन् १९६६ का प्रारम्भ हमें सामाजिक दृष्टिसे भी दुःखदायी सिद्ध हुआ है। श्रीमान् बाबू छोटेलाल जी कलकत्ताका वियोग सांस्कृतिक और सामाजिक दोनों दृष्टियोंसे जैन समाजके लिये हानिकारक है। जैन-साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्वका जितना कार्य आपने किया है वह सब स्वर्णाक्षरोंमें लिखा जाने लायक है। कितना दुर्बल शरीर और कितना अटूट श्रम उनका था, किन्तु कभी उनका उत्साह भंग नहीं हुआ। ऐसे महान् व्यक्तिके प्रति हमारे श्रद्धा-सुमन अर्पित हैं।

मेरा भाषण विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष पदका भाषण है। अतः इसमें सांस्कृतिक तत्त्वज्ञानकी पुट रहना स्वाभाविक था। मैंने इसे बहुत कुछ सरल और स्वाभाविक बनानेका प्रयत्न किया है।

अन्तमें स्वागत समिति द्वारा किये गये आतिथ्यके लिये अपनी ओरसे और विद्वत्परिषद्की ओरसे आप सबका आभार प्रकट करता हुआ अपना भाषण समाप्त करता हूँ। ●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org